International Journal of Sanskrit Research 2017; 3(1): 190-194

International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519
IJSR 2017; 3(1): 190-194
© 2017 IJSR
www.anantaajournal.com
Received: 20-11-2016
Accepted: 18-12-2016

डॉ. आराधना सारवान
व्याख्याता (हिन्दी), राजकीय शास्त्री संस्कृत महाविद्यालय, अलवर, राजस्थान, भारत

Corresponding Author:
डॉ. आराधना सारवान
व्याख्याता (हिन्दी), राजकीय शास्त्री संस्कृत महाविद्यालय, अलवर, राजस्थान, भारत

हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति और प्रेमचन्द

डॉ. आराधना सारवान

प्रस्तावना

किसी भी साहित्यकार और उसके साहित्य के निर्माण में उस देश की संस्कृति की अमिट छाप स्पष्ट दिखाई देती है । संस्कृति का निर्माण समाज के रूपों तथा मनुष्य के आचार संहिता के सम्मिश्रण से तैयार होता है । साहित्यकार अपने अन्तः जगत और बाह्य जगत, दोनों से जुड़कर कुछ चेतनाओं को ग्रहण करता है और यही संस्कार उस मनुष्य की विधायिका बन जाता है । संस्कृति अन्तर्जगत की वस्तु है । संस्कृति का सीधा सम्बन्ध संस्था से है, जिसका अर्थ होता है संसोधन या परिष्करण । संकुचित विचार है कि समाज या जाति संस्कार को ही संस्कृति कहते हैं । किसी भी संस्कृति का निर्माण सहस्र वर्षों के घोर परिश्रम का प्रतिफल होता है जो एक मान्य समाज के अन्तर्गत प्रतिस्थापित करता है । समाज उसका अनुशरण करता है । जब संस्कृति दूसरे संस्कृति के सम्पर्क में आती है, तब वह एक दूसरे को प्रभावित करती है। संस्कृति के साथ बहुधा देश और काल के नामों को जोड़ दिया जाता है, परन्तु आचार संहिता और धार्मिक तत्वों के साथ जुड़ने पर संस्कृति एक विशेष रूप बन्धन में जकड़ दी जाती है । जैसे हिन्दू संस्कृति, इस्लाम संस्कृति आदि ।

संस्कृति के बाह्य रूप को सभ्यता कहते हैं सभ्यता और संस्कृति एक दूसरे के पूरक हैं। सभ्यता का एक दूसरा नाम शिष्टाचार भी है और इस शिष्टाचार के धरातल पर विनय, शील तथा शिष्ट आचरण का संयोग शिष्टाचार बनाम सभ्यता को जन्म देती है । प्रेमचन्द जी भारतीय सभ्यता और संस्कृति के परमभक्त थे । उन्होंने इससे बहुत कुछ सीखा जो समाज के लिए प्रेरणास्पद रहा । प्रेमचन्द ने अपने सम्पर्क में आई हुई दोनों ही संस्कृतियों में विद्यमान कुसंगतियों तथा बुराइयों का अपने साहित्य के माध्यम से घोर विरोध भी किया । संस्कृति की अमिट छाप प्रेमचन्द जी के ऊपर पड़ी है । मुन्शी प्रेमचन्द का जन्म हिन्दू समाज में हुआ था । हिन्दू होने के कारण भारतीय हिन्दू संस्कृति से प्रेमचन्द का जन्मजात सम्बन्ध था ।

यद्यपि आगे चलकर प्रेमचन्द जी का विभिन्न संस्कृतियों से सम्बन्ध हुआ जिनका प्रभाव उनकी विचारधाराओं पर पड़ा परन्तु वे सर्वदा भारतीय भावभूमि पर ही खड़े रहे । भारतीय समाज में विद्यमान कुछ कुरीतियों का उन्होंने निश्चित रूप से विरोध किया परन्तु उन्होंने भारतीय संस्कृति को सर्वोत्कृष्ट माना है । भारतीय संस्कृति के मूल तत्व आध्यात्मिकता की तरफ भी प्रेमचन्द की पूर्ण आस्था थी । प्रेमचन्द को आध्यात्मिक तत्व और आत्मा पर विशेष भरोसा और विश्वास था । आध्यात्मिकता सही प्रकार की आत्मा की चेतनता के कारण जागृत होती है । प्रेमचन्द की कहानियों में प्रस्तुत पात्रों में हृदय विशालता, सत्कर्मों को प्रोत्साहन आदि को अपनाने की प्रबल शक्ति है । आध्यात्मिकता के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति में आवागमन या पुनर्जन्मवाद का विशेष स्थान हैं । प्रेमचन्द ने भारतीय संस्कृति पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन किया है । प्रेमचन्द के ऊपर किसी न किसी रूप में टालस्टाय गाँधी तथा भारतीय संस्कृति के तत्वों तीनों का प्रभाव पड़ा है ।

भारतीय संस्कृति का सबसे प्रमुख सिद्धान्त निष्काम कर्म है । इस सिद्धान्त के अन्तर्गत मनुष्य संसार के प्रति उदासीन होकर कर्म करें अर्थात् उस कर्म के प्रति कोई आसक्ति न रखें । इस बात को भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है –

"ब्रह्मव्याधाय कर्माणि संगस्त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पदम्पत्रमिवाम्भसा[1]" ।।

फिर भी मनुष्य एक चेतन प्राणी है, मशीन नहीं वस्तुतः मानव अपने स्वभाव के अनुकूल कर्म करने के साथ आनन्द या सुख की प्राप्ति की आकांक्षा भी रखता है । संसार के बीच मनुष्य सांसारिक जीवन की उपयोगिता को सिद्ध करते हुए अपने कर्मों के बीच गतिशील रहता है । प्रेमचन्द इस प्रवृत्ति मुक्त निवृत्ति के समर्थक थे ।

प्रेमचन्द मनुष्य की सद्प्रवृत्तियों में गहरी आस्था रखने वाले लेखक हैं । दूसरे दौर की उनकी कहानियां रूक-रूक कर उनके इसी विश्वास को प्रकट करती हैं कि आत्यंतिक रूप से मनुष्य कभी बुरा नहीं होता और न ही उसके सुधार और विकास की संभावनाएं कभी निःशेष होती है । इसीलिए उनकी इन कहानियों का रचना संसार अधिकांशत: छल-छद्म से मुक्त भोले निश्चल और आस्थावान लोगों का संसार है । गांधीवादी सिद्धान्तों और आचरण के प्रति अपने गहरे विश्वास के कारण ही प्रेमचन्द यथार्थवाद को अपर्याप्त मानकर टिप्पणी करते हैं – "उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है, बल्कि अनुभूतियां ही रचनाशील भावना से अनुरञ्जित होकर कहानी बन जाती हैं, यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है[2]" । इसके बाद आगे चलकर वह जो लिखते हैं उससे स्पष्ट हो जाता है कि वह यथार्थवाद को यथातथ्यता और प्रकृतिवाद से अलग करके नहीं देख पा रहे हैं । कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नहीं है । कला दीखती तो यथार्थ है पर यथार्थ होती नहीं है । उसकी खूबी यही है कि यथार्थ मालूम हो । यही कारण है कि इस काल की अधिकांश कहानियों में हमें पात्र और उनका परिवेश तो यथार्थ दिखाई देता है लेकिन इन पात्रों का आचरण और उसे प्रभावित करने वाली सोच अपने मूल रूप में यथार्थ विरोधी ही है - कोई चाहे तो रिवाज के मुताबिक उसे आदर्शवादी भी कह सकता है ।

इसी दौर की उनकी प्रतिनिधि कहानियों में 'बड़े घर की बेटी', 'नमक का दरोगा', 'दुर्गा का मन्दिर', 'सज्जनता का दण्ड', 'पंच परमेश्वर' और 'मृत्यु के पीछे' आदि को लिया जा सकता है । 'बड़े घर की बेटी' में प्रेमचन्द यह महसूस करते दिखाई देते हैं कि संयुक्त परिवार प्रथा के प्रति उनके गहरे मोह के बावजूद उसको लम्बे समय तक जिलाए रखना मुश्किल है । मानवीय सद्वृत्तियों को प्रेमचन्द प्रायः ही एक ढाल की तरह इस्तेमाल करते दिखाई देते हैं और नेकी तथा ईमानदारी की हर लांछना-प्रताड़ना को उसी पर रोकते हैं । 'नमक का दरोगा' में मुंशी बंधीधर, पंडित अलोपीदीन से चालीस हजार रुपये की घूस का प्रस्ताव भी दृढ़तापूर्वक ठुकरा देते हैं । वह यह जानते हैं कि अलोपीदीन इस क्षेत्र के बहुत असरदार आदमी हैं और जल्दी ही उन्हें असर का प्रमाण भी मिल जाता है । एक सप्ताह बीतते न बीतते वह मुअत्तिल कर

दिये जाते हैं । लेकिन प्रेमचन्द की कहानी इसी मुअत्तिल पर खत्म नहीं हो जाती है । उसमें अलोपीदीन, मुंशी बंशीधर से हारकर भी अपनी सद्वृत्ति का परिचय देते हैं। 'पंच परमेश्वर' भावुक और भोले विश्वास को प्रकट करती है कि पंच के जबान पर ईश्वर का वास होता है - पंच न किसी का दुश्मन होता है न दोस्त । 'दुर्गा का मन्दिर' और 'आत्माराम' जैसी कहानियां भी अकारण संयोगों, निश्चित विश्वासों, भावुक सद्प्रवृत्तियों और हृदय परिवर्तन के सिद्धान्त पर आधारित कहानियां हैं, जो वैचारिकता की दृष्टि से प्रेमचन्द की सद्भाव से परिपूर्ण भावना को दर्शाती हैं ।

हिन्दू परिवार के अन्तर्गत संयुक्त परिवार प्रणाली प्राचीन काल से चली आ रही है । संयुक्त परिवार प्रणाली भारतीय संस्कृति और सभ्यता की एक ऐसी धारा है जो दुनिया के किसी भी संस्कृति और सभ्यता में इतने मर्यादित ढंग से देखने को नहीं मिलती । प्रेमचन्द जी आपसी मेलजोल एवं परस्पर सहायता पर आधारित संयुक्त परिवार के कट्टर समर्थक हैं, क्योंकि इस सिद्धान्तानुसार परिवार के सभी सदस्यों को समान सुख-सुविधा की प्राप्ति होती है । चाहे वह बालक हो, चाहे वह अपाहिज हो, चाहे वह धनोपार्जन करने वाला व्यक्ति हो, संयुक्त परिवार प्रणाली का यही आकर्षण प्रेमचन्द जी को अपने ओर आकर्षित करने में समर्थ होता है । प्रेमचन्द जी संयुक्त परिवार प्रणाली के विघटन का कारण पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव तथा व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना को दोषी ठहराया है ।

प्रेमचन्द जी ने कहीं भी वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध नहीं किया है । वे इस व्यवस्था को स्वीकार करते हुए समस्त मानव जाति को एक समान दृष्टि से देखना पसन्द करते हैं । उनकी दृष्टि में जो अपने घर, धर्म तथा कर्तव्य का ईमानदारी से पालन करे वही समाज में उच्च है और जो पालन न करे वही नीच है । प्रेमचन्द जी उत्सवप्रियता एवं अतिथि सत्कार, जो हिन्दू संस्कृति की एक महत्वपूर्ण विशेषता रही है । उसको उन्होंने अपने जीवन तथा रचना के बीच महत्वपूर्ण स्थान दिया है । इसके सन्दर्भ में उन्होंने स्वीकार किया है कि यह आदि काल से ही भारतवर्ष के निवासियों का एक प्रधानगुण रहा है । इसी प्रकार प्रेमचन्द ने सेवा, त्याग, उपकार तथा प्रेम की भावना और 'वसुधैव कुटुम्बकम्[1]' के आदर्श आदि विशेषताओं को अपनी रचनाओं में महत्व दिया है ।

प्रेमचन्द जी एक मध्यम परिवार में पैदा हुए थे । उनके परिवार का पहले से ही कई भाषाओं से लगाव था जिसके फलस्वरूप प्रेमचन्द जी पर शुरू से उर्दू-फारसी का प्रभाव पड़ा और शिक्षा का आरम्भ भी इन्हीं के माध्यम से हुआ । उर्दू भाषा मुख्य रूप से मुसलमानों की भाषा थी । उर्दू भाषा से स्वाभाविक सम्बन्ध के कारण प्रेमचन्द जी पर मुस्लिम संस्कृति का बालपन से ही प्रभाव पड़ चुका था । जिसकी प्रमाणिकता उनकी 'फतीहा या विजय', 'जिहाद' 'वज्रपात' 'क्षमा' 'शतरंज के खिलाड़ी', 'परीक्षा', 'लैला', 'हिंसा', 'परमोधर्म', 'ईदगाह' और 'मन्दिर-मस्जिद' कहानियां हैं । इसके अन्तर्गत प्रेमचन्द जी ने मुस्लिम संस्कृति तथा इतिहास की पूर्णरूपेण विवेचना की है ।

भारतीय हिन्दू संस्कृति में मानव जीवन के उत्थान और कल्याण से सम्बन्धित सभी आवश्यक सामग्रियों की उपलब्धि है । हिन्दू संस्कृति का शुरू से ही लक्ष्य लोक कल्याण रहा है । इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मनुष्य को कई रास्ते भी दिखाए गये हैं, जिनके माध्यम से मानव अपनी स्वेच्छा से सुविधानुसार मंजिल तक पहुँच सकते हैं । फिर भी प्राचीन भारतीय संस्कृति में कुछ कुरीतियां भी हैं जो किसी वर्ग विशेष की स्वार्थसिद्धि का माध्यम हैं । प्रेमचन्द जी को इस बात से आश्चर्य तथा दुःख होता था कि भारतीय संस्कृति जिसकी अपनी एक विशेषता थी, वह अन्य सम्पर्क में रहने वाली संस्कृतियों को आत्मसात कर लेती थी, जबकि इतने लम्बे समय से उनके साथ रहने वाली मुस्लिम संस्कृति को वह अपना नहीं सकी । जबकि दोनों की मूल स्थिति यह है कि दोनों में पर्याप्त साम्य भी है । दोनों का संबंध इतनी निकटता से है कि एक संस्कृति को मानने वाले दूसरी संस्कृति में भी मौजूद हैं । इसके सम्बन्ध में प्रेमचन्द जी ने अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हुए लिखा है – "हिन्दू मूर्तिपूजक हैं तो क्या मुसलमान

[1] महोपनिषद्, अध्याय - 6, मंत्र - 71

कब्रपूजक और स्थान पूजक नहीं है, ताजिए को सर्वत और सीरीनी कौन चढ़ाता है, मस्जिद को ख़ुदा का घर कौन समझता है अगर मुसलमानों में एक सम्प्रदाय ऐसा है जो बड़े- बड़े पैगम्बर के सामने सिर झुकाना भी कुफ्र समझता है तो हिन्दुओं में भी एक सम्प्रदाय ऐसा है जो देवताओं को पत्थर के टुकड़े, और नदियों के पानी की धारा तथा धर्मग्रन्थों को गपोड़े समझता है । यहां तक तो हमें दोनों संस्कृतियों में अन्तर नहीं दीखता है[3]"।

प्रेमचन्द ने अपने 'साम्प्रदायिकता और संस्कृति' लेख में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति की समानता पर अपनी भावनाओं का सविस्तार वर्णन किया है गरीबी समानता के बावजूद भी दोनों में आपसी विरोध के छींटे दिखाई पड़ते हैं ।

मुस्लिम संस्कृति की वे सारी खूबियां जो प्रेमचन्द जी को प्रभावित करती थीं, वे पहले ही भारतीय संस्कृति के द्वारा उन्हें मिल चुकी थीं । दूसरी तरफ भारतीय संस्कृति और सभ्यता के जिन मुद्दों का मुसलमान खिलाफत करता था, वे स्वयं पूर्णरूपेण मुस्लिम संस्कृति में भी विद्यमान थी । इसके अलावा मुस्लिम संस्कृति के बहु-विवाह की प्रथा तलाक परम्परा तथा हिंसा उनके मानसिक विचारों के प्रतिकूल तथा प्रकृति के खिलाफ थे । इसके बाद भी मुस्लिम संस्कृति की एक विशेषता, जिसका कि भारतीय संस्कृति में पूर्णरूपेण अभाव है, उनके दिल और दिमाग पर अपना घर कर लेती हैं, जिसे वह तत्काल अपना लेते हैं । मुस्लिम संस्कृति की एक विशेषता है, मुस्लिम समाज में हिन्दू समाज की अपेक्षा कहीं अधिक बराबरी तथा भाई चारे का सम्बन्ध, प्रेमचन्द जी को आकर्षित करता है ।

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत अपने पिता की धन सम्पत्ति पर लड़कियों का कोई अधिकार नहीं है, बल्कि शादी के बाद भी अपने पति के जिन्दा रहने तक सिर्फ वह एक पत्नी है, वह एक गृहस्वामिनी तभी हो सकती है जब उसका पति गृहस्वामी हो । प्रेमचन्द जी ने 'नारी जाति के अधिकार" शीर्षक के माध्यम से नारी जाति की दशा में सुधार की चर्चा करते हुए लिखा है – "पुरुष की सम्पत्ति पर पत्नी का पूरा अधिकार हो । वह रेहन-नामा में जो कुछ चाहे कर सके । इस विषय पर मुस्लिम संस्कृति में विशेष ध्यान दिया गया है । मुस्लिम परिवारों में पुरुष की ही भांति नारियों का भी घर की प्रत्येक वस्तु पर पूर्ण अधिकार रहता है, जिसके फलस्वरूप मुस्लिम परिवारों की स्थिति हिन्दू परिवारों की स्त्रियों की अपेक्षा सुदृढ़ रहती है । इस विषय पर अपनी भावना को प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है – 'मुस्लिम संस्कृति औरतों के हक का जितना लिहाज करती है, उतना और कोई मजहब नहीं करता[4]'।

प्रेमचन्द जी के कथा साहित्य में स्त्रियों के साथ-साथ अछूत वर्ग के प्रति भी जागरण के चिह्न प्रकट होने लग गये थे । अस्पृश्यता के कलंक को स्वीकार किया जाने लगा । प्रेमचन्द की कहानियों मे भावुकता, कल्पना, आदर्श त्याग, राष्ट्रीय एकता, साम्प्रदायिकता सद्भाव, अछूतोद्धार तथा कर्तव्य पालन की प्रवृत्तियों के वर्णन की विशेषता सर्वत्र परलक्षित होती हैं तत्कालीन समाज राजनीति देश प्रेम और सुधार आन्दोलनों से प्रेरणा ग्रहण कर यशस्वी कथाकार प्रेमचन्द ने आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहानियों की रचना की । सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन के साथ जीवन में भी परिवर्तन आता है और इस परिवर्तित जीवन का प्रभाव साहित्य में परिलक्षित होता है । इसी कारण प्रेमचन्द ने अपने सामाजिक समुदाय को पूरी तरह जवाबदेही के साथ निभाया और वह "व्यक्ति" न रहकर "शक्ति" बन गये । सामाजिकता के क्षेत्र में वह प्रगतिशील लेखकों के 'उस्ताद' और 'मार्गदर्शक' थे । समाज में उनकी आँखों की रोशनी पाकर न जाने कितने भटकते हुए राहगीरों को राहत मिल गया । उनका विचार था कि संसार में जितना अन्याय अत्याचार है, जितना द्वेष और मालिन्य है, जितनी मूर्खता और अज्ञानता है, उसका मूल रहस्य यह सम्पत्ति रूपी विष की गांठ है । जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगी तब तक मानव समाज का उद्धार न हो सकेगा ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता पूर्व हिन्दी कहानी में धार्मिक, सामाजिक और साम्प्रदायिक विसंगति के प्रति विद्रोह की भावना प्रेमचन्द युग से ही प्रारम्भ हो गयी थी । जिसका प्रमुख कारण तत्कालीन

सत्तासीन ब्रिटिश सरकार की कूटनीति ही थी । फिर सच तो यह है कि कहानी को तत्कालीन रूढ़ियों और विसंगतियों पर प्रहार करके ही नये तथ्यों से सम्बद्ध किया जा सकता था । स्वतन्त्रता पूर्व कहानी में यथासम्भव सर्वाक्षेत्रीय रूढ़ियों पर घातक प्रहार किया गया है, जो आधुनिक कहानी के लिए प्रमुख आधार है । रूढ़ियों के प्रति कहानी की विद्रोहात्मक प्रवृत्ति समाज के मानव की उस प्रतिक्रिया को चित्रित करने की है, जो प्राचीन संस्कारों में आबद्ध, निजी स्वार्थों में लुप्त मौलिक मान्यताओं, आपसी सम्बन्धों के प्रति समर्पित, दूसरे धर्म के प्रति अनादर और स्वधर्म के प्रति लालायित भाव धारण करना एक दूसरे के प्रति द्वेष और वैमनस्य का भाव रखना आदि लिप्साओं से जकड़े हुए हैं । मानव उलझे हुए सम्बन्धों के उस मोड़ पर पहुँच गया है जहाँ भटके हुए सूत्रों को खोजने से नहीं अपितु उन्हें झटका मारकर तोड़ने में ही विस्तार है । आज जरूरत है धर्म की परम्परागत मान्यता का शिथिल होकर मानवता की ओर उन्मुख होने की आज का व्यक्ति पारलौकिक मुक्ति की कामना की जगह भौतिक उपलब्धियों को श्रेष्ठ मानने लगा है । वह अपने जीवन में किसी भी प्रकार के आरोपण को अस्वीकार करता है । वह आरोपित झूठी और खोखली मर्यादा तथा नैतिकता को भंग करता है और व्यक्ति की नैतिकता को प्रश्रय देता है, मनुष्य के उन नये मूल्यों को प्रश्रय देता है जो उसके अस्तित्व की अनिवार्य शर्त बन गये हैं । वह धार्मिक मानवतावाद को पृथक् न्याय और समता पर आधारित व्यापक मानवीय मूल्यों को अंगीकार करता है।

इस प्रकार की मानवीय प्रवृत्ति और भावना होने के पश्चात् भी ब्रिटिश सरकार द्वारा सत्ता के स्वार्थ मे बीजारोपण किया गया सामाजिक वैमनस्यता और साम्प्रदायिकता के तथ्य आधुनिक भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में अग्रणी राजनेताओं को अपने से मुक्त नहीं होने दिया जिसके परिणामस्वरूप बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही, जब ऐसा प्रतीत होने लगा कि सत्ता की भागीदारी में भारतीय नेताओं को भी भाग लेने का मौका मिलेगा, तो हमारे राजनेता भी सत्ता के स्वार्थ में भारत को आपसी द्वेष, वैमनस्य, धर्मान्धता, ऊँच-नीच आदि साम्प्रादायिक भावनाओं से परिपूर्ण कर दिया । परिणामतः परिणति स्वरूप स्वतन्त्रता खण्डित भारत के रूप में मिली । भारत, भारत-पाकिस्तान दो हिस्सों में विभक्त हो गया । भयंकर साम्प्रदायिक दंगे हुए, हिन्दू और मुस्लिम परिस्थितिगत स्थिति के कारण बंटवारा हो जाने से भी अलग नहीं हो सके और परिणामतः भारत की स्थिति ज्यों कि त्यों ही रह गयी । आजादी के वक्त की साम्प्रदायिकता बंटवारे के साथ समाप्त होने की बजाय स्वतन्त्र भारत में और अधिक फूलने-फलने लगी।

आज भारत को स्वतन्त्र हुए छह दशक हो गया फिर भी साम्प्रदायिक भावना आजादी के पूर्व से भी अधिक बढ़ चुकी है। जिसका प्रमुख कारण राजसत्ता ही है । अन्तर सिर्फ इतना ही है कि तब सत्ता के स्वार्थी अंग्रेज थे और आज उन्हीं के मानसिक बीजारोपण से उत्पन्न भारतीय राजनेता । जब तक सत्ता का स्वार्थ नेताओं के मनःमस्तिष्क में विराजमान रहेगा, राजनेता भारत को साम्प्रदायिकता से मुक्त नहीं होने देंगे । आने वाले समय में इसका स्वरूप कैसा होगा । यह कल्पना करना असम्भव है । भारत की जनता आज भी भावना प्रधान है और ये राजनेता इनकी भावुकता और भावनाओं का बहुत बारिकी से इस्तेमाल करते हैं, जो साम्प्रदायिक विकास के लिए सम्पूर्ण आहार है ।

सन्दर्भ सूची

1. श्रीमद्भगवद्गीता - 5/10
2. हिन्दी कहानी का विकास, मधुरेश, पृष्ठ - 27
3. साम्प्रदायिकता और संस्कृति, विविध प्रसंग भाग-2, पृष्ठ - 232
4. हिंसा परमोधर्म (कहानी) मानसरोवर (भाग-5) पृष्ठ - 93